भारतीय आस्था एवं पर्यावरण रक्षा

राजेन्द्र सिंह

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधःकस्य स्विद् धनम्॥१॥

ईशावास्योपनिषद्

भारतीय आस्था एवं पर्यावरण रक्षा

राजेन्द्र सिंह

तरुण भारत संघ
भीकमपुरा, अलवर
राजस्थान

पर्यावरण प्रशिक्षण माला

पुष्प - १

□

भारतीय आस्था एवं पर्यावरण रक्षा

BHARATIYA ASTHA EVAM PARYAVARAN RAKSHA

by Rajendra Singh

प्रकाशन : सितम्बर १९९६

मूल्य : पाँच रुपये

© तरुण भारत संघ

भीकमपुरा, अलवर

राजस्थान

प्रस्तावना

आज हमारा जीवन सुविधाओं के जाल-जंजाल में जकड़ गया है। ये सुविधाएँ हर आदमी की दिनचर्या को थोड़ा आरामदायक बना रही हैं। आराम की इस आदत के कारण सुविधाएँ अच्छी लगने लगी हैं और आदमी प्रकृति से दूर चला गया। प्रकृति पीछे छूट गयी है। आदमी सुविधाभोगी बनकर साधनों का गुलाम बन गया है। साधनों के अंबार में कहीं दब गया है। साधन भारी पड़ने लगे हैं और आदमी छोटा दिखने लगा है।

साधनों की अपनी भी एक संस्कृति होती है। एक साधन के पीछे दूसरा साधन आता है। दूसरे साधन का आना पहले साधन की अनिवार्यता होती है। इसी अनिवार्यता के कारण बाजार विकसित होते हैं। मंडियाँ बनती हैं और मंडियों में बोल-बाला सदा पैसे का होता है। मोलभाव का मूल आधार मुद्रा होती है। पूँजी होती है। पूँजी की इस बाजारू संस्कृति के वर्चस्व में आदमी सदा अदना होता है। उसका कोई मूल्य नहीं होता। होता भी है यदि कुछ, तो वह घटता रहता है, बढ़ता नहीं।

इस प्रकार हम आज दोहरे संकट से गुजर रहे हैं। एक तरफ प्रकृति से कटकर, सुविधाभोगी बनकर, पंगु हो रहे हैं और दूसरी तरफ मंडियों के बीच खड़े होकर अपने को मूल्यवान बनाने की बजाय मूल्यहीन बना रहे हैं। यह मूल्यहीनता एक तरह से हमें मूल्यविहीन भी बना रही है। यही मूल्यविहीनता हिंसा, नफ़रत और क्रूरता के

रूप में जब-तब मुखरित होती रहती है। मात्र मुखरित ही नहीं होती बल्कि हमें चुनौती देती रहती है। यही चुनौती आदमी को किंकर्तव्यविमूढ़ बनाती है और वह आदर्शों की बात करना भूल जाता है। आदर्श उसे पराये लगने लगते हैं। आदर्श और व्यवहार की दलील देने वाले तमाम लोग इंसानियत की इस मूल्यविहीनता को व्यक्त करते रहते हैं। करुणा-मैत्री, शांति-अहिंसा, और सत्य जैसे मूल्यों को खोकर ही आदमी खोखला बनता है। मूल्यों को खोकर जब आदमी अदना बनता है तभी वर्तमान सभ्यता के सामने एक नया संकट खड़ा होता है। यह मूल्यों का संकट है। इसे हम सांस्कृतिक संकट ही कह सकते हैं।

इस सांस्कृतिक संकट में प्रकृति भी खतरे में है और आदमी भी। ऐसे में हमारे सामने दो बड़ी चुनौतियाँ खड़ी हैं। पहली चुनौती है आदमी की अस्मिता की पुनः स्थापना करने की। दूसरी चुनौती है प्रकृति की व पर्यावरण की रक्षा की। ऐसी दोहरी चुनौती का सामना हम बिना अपनी जड़ों से जुड़े नहीं कर सकते। हमें हमारी परम्परा से जुड़ना होगा। अपनी नींव को तलाशना होगा तथा उसकी मजबूती के सहारे नये कल्प की कामना करनी होगी।

राजेन्द्रसिंह का प्रस्तुत लेख इसी दिशा में एक प्रयास है। वर्तमान संकट को समझने का प्रयास तथा अपनी परम्परागत आस्था से जुड़ने का प्रयास।

विश्वास है सुधी पाठकों के लिए इसका प्रकाशन उपयोगी एवं श्रेयस्कर होगा। □

— रमेश थानवी

5 सितंबर, 1996
शिक्षक दिवस
□
मानसरोवर, जयपुर

भारतीय आस्था एवं पर्यावरण-रक्षा

ऐतिहासिक प्रमाणों से पूर्व सृष्टि (प्रकृति) को ब्रह्मा के तप संकल्प से निर्मित माना गया है। अनेक आवर्तनों से होते हुए वापस ब्रह्मा में लीन होने वाली प्रकृति निश्चित कालचक्र के अनुसार सर्जन एवं प्रलय का आवर्तन दोहराती रहती है। बार-बार उत्पत्ति एवं विनाश सृष्टि का ही होता है। इसके अतिरिक्त न किसी वस्तु या भाव की उत्पत्ति होती है, और न ही विनाश।

इस प्रकृति-लीला का चित्र प्रत्येक भारतीय मानस पर अंकित था। पुराणों में इस लीला का जो सुव्यवस्थित कालचक्र दिया गया है, इसके अनुसार प्रकृति की लीला अनादि और अनन्त चलने वाली है। इसके अनुसार प्रकृति-लीला

के आवर्तनों का मौलिक कालांश 'चतुर्युग' है। आरम्भिक काल आनन्द का काल है। इस युग में जीव कर्ता से दूर नहीं है, इसलिए इसे 'कृतयुग' भी कहा जाता है। इस युग में जीव-जीव में भिन्नता नहीं है। सभी एक हैं। यूं भी कह सकते हैं कि इस युग में वर्ण की अभी बात ही नहीं उठी थी। सहज, जटिलतारहित तथा मद, मोह, लोभ, अहंकार जैसे भाव तो उत्पन्न ही नहीं हुए थे। काम नहीं था। जीवन की आवश्यकताएं बहुत सीमित थीं। जीवन चलाने के लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। इस सहज आनन्दमय युग में ज्ञान की आवश्यकता नहीं थी। इसलिए वेद-रचना भी नहीं हुई थी।

यह आनन्दमय युग लम्बे समय तक चला था, लेकिन समय के साथ-साथ प्रकृति में जटिलतायें बढ़ती चली गई थीं। सहज चलने वाली व्यवस्था विकृत होने लगी थी। धारण करने वाले तत्व की हानि होने लगी थी, कर्ता से जीवों की दूरी बढ़ने लगी, कर्ता को विभिन्न अंशावतारों के रूप में जन्म लेना पड़ा। चूंकि धारण करने वाले तत्व की पुन:स्थापना करने के लिए बार-बार अंशावतारों को जन्म लेने से जटिलता बढ़ी व जीवन में गिरावट आई। इस प्रकार 'कृत' का अंत होता गया और त्रेता का प्रारम्भ हुआ।

त्रेता युग एक राजा व एक वेद से आरम्भ होता है। इसमें मद, मोह, लोभ, अहंकार जैसे मनोविकारों की उत्पत्ति होने लगी। प्राथमिक अवस्था के कारण मानवीय मर्यादाओं से इन पर नियंत्रण हुआ। सीमित आवश्यकताओं के इस युग में मानव कुछ कलाकौशल व तकनीक सीखने लगा। इससे जीवन की जटिलता तेजी से बढ़नी आरम्भ हो गई। जीव-जीव में विभिन्नतायें तो बढ़ीं लेकिन आपसी सम्पर्क एवं संवाद में कोई व्यवधान अभी तक नहीं आया था। तभी तो इस युग के अंशावतार थे राम। राजा होते हुए भी भोगवादी संस्कृति को रोकने हेतु उन्होंने वानरों, भालुओं, पशु-पक्षियों को इकट्ठा करके प्राकृतिक विजेता बनने एवं 'रावण' को समाप्त करने की योजना बनाई थी।

तकनीकी ज्ञान में निपुण, भोगवादी रावण, अपने तकनीकी तन्त्र के बल पर प्रकृति के अंग वर्षा, हवा, सूरज, आकाश, धरती पर अपना नियंत्रण कर बैठा था। प्रकृति के अधिकतर हिस्से (देवता रूपी हवा, इन्द्र, वरुण आदि) उसकी जेल में बंद थे। उसने आज की तरह सभी सत्ताओं का केन्द्रीकरण करके स्वयं को उसका नियन्ता बनाना चाहा था। उसने अपने नैसर्गिक सुख के लिए एक अशोक वाटिका आज के वन्य जीव अभयारण्यों की तरह से बनाकर रखी थी, जिसमें वह स्वयं या उसके अपने अभिजात वर्ग के लोगों का ही प्रवेश सम्भव था। सीता को इस वाटिका में रखना भी हमें ऐसे ही संकेत देता है। हनुमान द्वारा लंका में प्रवेश करके इसे उजाड़ना भी आज के जंगल में रहने वालों का जंगल के प्रति असंतोष एवं प्रतिक्रिया व्यक्त करना जंगल उजाड़ने जैसी ही घटना थी।

यहां हनुमान द्वारा सोने की लंका को जलाकर लंका की भोगवादी संस्कृति को समाप्त करने की प्रक्रिया आरम्भ हुई दिखती है। वैसे यह प्रक्रिया तो राम की दूरदर्शी सौतेली मां कैकेयी द्वारा ही आरम्भ कर दी गई थी। कैकेयी जानती थी कि राम ही ऐसी नैतिक शक्ति है, जो भौतिकवादी ताकत रावण को समाप्त कर सकती है।

लंका में उस समय भी आज जैसा प्रलोभन, लूटमार, भय और धोखा सब कुछ था। सीता को सोने का हिरण दिखाकर अपहरण करने की घटना इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। भोगवादी ताकतों के विरुद्ध नैतिक ताकत खड़ी करने वाली कैकेयी को उस समय चारों तरफ अपमान-बदनामी मिल रही थी, क्योंकि उस समय भी पूरा समाज इस स्थिति में नहीं था कि आज की तरह जीवन को सुख देने वाली वस्तु का त्याग करके मूल्यों की स्थापना कराने व करने वालों को प्रतिष्ठित कर सके, बल्कि ऐसे लोगों को निन्दा व मौत का शिकार होना पड़ा था।

राम-रावण युद्ध नैतिक प्रकृति-प्रेमियों व अनैतिक भोगवादी ताकतों के बीच का युद्ध था। इस बात के स्पष्ट प्रमाण युद्ध आरम्भ से लेकर अन्त तक हमें मिलते रहे। राम के साथ पशु-पक्षी सब मिलकर युद्ध की तैयारी करते हैं। समुद्र पर पुल बनाना आपसी सहयोग का अद्‌भुत प्रमाण है। इस तरह से युद्ध में कोई प्रलोभन या धोखा नहीं दिया गया जबकि रावण ने राम-लक्ष्मण को धोखे से उठवा दिया था। उसने परमाणु अस्त्रों का प्रयोग भी किया था। उसके पास बहुत शक्तिशाली अस्त्र थे, लेकिन ये सब भी लंका को बचा नहीं पाये और लंका लगभग समाप्त हो गई, तभी यहां की संस्कृति का अन्त हुआ। इसके बाद यहां के एकमात्र प्रकृति-प्रेमी व नैतिक शक्ति के पोषक विभीषण को वहां की सत्ता सौंप दी गई। इसने यहां एक नई संस्कृति को पैदा किया।

इस प्रकार संस्कृतियों के आवर्तन-प्रत्यावर्तन होते रहे, जिससे मानव एवं जीवों की सरलता समाप्त होती गई और सभी जीवों तथा भावों में विभिन्नता आने लगी। फलस्वरूप विभिन्न विद्याओं एवं विधाओं की उत्पत्ति हुई। इनमें भी विभाजन होकर इनसे भी अनेक शास्त्र निर्मित होते रहे। भारतीय इसे द्वापर युग कहते हैं। उक्त प्रमाण ऐतिहासिक तौर पर खरे हैं या नहीं-यह मैं नहीं कह सकता लेकिन उक्त घटनाचक्र रामायण महाकाव्य का आधार है। ऐसा भाव यदि वाल्मिकी-तुलसीदास जैसे व्यक्ति के मन में आया और उसे करोड़ों लोगों ने स्वीकार किया है, तो मैं इसे तथाकथित प्रमाणों के आधार पर लिखे गये इतिहास से अधिक प्रामाणिक मानता हूं। द्वापर युग की जानकारी देने वाली रामायण भले ही बाद में रचित हुई हो लेकिन यह भारतीय समाज के लिए किसी भी ऐतिहासिक ग्रन्थ से बड़ी है।

वैसे भारतीय दृष्टि से जिसे हम इतिहास कहते हैं, उसका आरम्भ द्वापर से ही हुआ दिखता है। इस युग में ही सृष्टि (प्रकृति) अपनी सहजता से बहुत दूर निकल गई थी। सभी जीवों और भावों में विभिन्नता आने लगी थी। इसके कारण विभिन्न विधाओं तथा विद्याओं की उत्पत्ति हुई। इनमें विभाजन होकर

इनके अनेक शास्त्र बन गये। जीवनयापन के लिए कलाओं एवं तकनीक की जरूरत पड़ती है। इस प्रकार सृष्टि की जटिलता बढ़ती गई। खेती भी सरल नहीं रही अपितु अनाज पैदा करने के लिए प्रयत्न करने पड़े। ''यथा कथा च विधया अन्नम् बहुकूनीर्त'' - इन विविध शिल्पों और कलाओं के वहन के लिए ही अब एक नया 'शूद्र वर्ण' भी निर्मित हो गया। इस काल में ही ईर्ष्या, लोभ व क्रूरता लोगों के स्वभाव में निहित हो गई। यहां का राजा क्षत्रियोचित आवेश में ही लिप्त रहा। धारण करने वाले व्यवहार की हानि होने, क्षत्रियों की परस्पर ईर्ष्या, लोभ, कटुता के कारण पृथ्वी विष्णु से प्रार्थना करती है कि अब इतना बोझ हो गया है। मेरे लिए सहन करना मुश्किल हो गया है। बिल्कुल आज जैसा भयंकर पर्यावरण संकट उस समय उत्पन्न हो गया था। इस संकट से बचाने हेतु कृष्ण-बलराम जैसे पर्यावरण संरक्षक (अंशावतार) पैदा हुए। तब भौतिक वं नैतिक शक्तियों में युद्ध हुआ। इस युद्ध में भी नैतिक शक्तियों की विजय हुई। इस युद्ध को 'महाभारत' के नाम से जाना जाता है। यह युद्ध भी दो विचारधाराओं का युद्ध था। एक पक्ष पूरी भूमि व प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा करना चाहता था। इसके पास तकनीकी ज्ञान, आर्थिक सत्ता तथा अन्य सभी प्रकार की शक्तियां थीं। दूसरे पक्ष के पास पशुपालकों का नेता कृष्ण था जिसने अपना बचपन गोपालन में बिताया था तथा जंगलों में रहता था। युधीष्ठर जैसा प्रकृति-प्रेमी, अर्जुन जैसा भावुक वीर, भीम जैसा मर्यादाओं में रहने वाला बलशाली, नकुल-सहदेव जैसे प्राकृतिक गीत को समझने वाली नैतिक ताकतें थीं। ये प्रकृति के चक्र को समझने तथा बचाने की कोशिश करते रहे। इनके नेता कृष्ण प्रकृति चक्र के विषय में गीता में कहते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥16॥

गीता, अध्याय तीन

आलस्य या लालच के कारण हम श्रम को टालते हैं, और प्रकृति

के चक्र को तोड़ते हैं। लोभ में आकर जरूरत से ज्यादा लेने की हमारी कोशिश प्राकृतिक नियमों को तोड़ती है। प्रकृति की विविधता एक दूसरे की पूरक है। प्रकृति में सब प्राणियों की आवश्यकता पूर्ति की पूरी सामग्री मौजूद है, लेकिन हम बिना त्याग के भोग करते हैं, तो यह प्रकृति की चोरी है। वास्तव में त्याग और भोग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आज हम भोग तो करना चाहते हैं, लेकिन इसके लिए जरूरी मेहनत टालते रहते हैं। ऐसा करने वाले चोर हैं—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता:।
तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स:॥12॥

गीता अध्याय तीन

"तुम्हारे यज्ञ अर्थात् श्रम से प्रसन्न होकर 'देवता' तुम्हारे लिए इष्ट भोग की वस्तुएं तुम्हें देंगे। इस प्रकार प्रकृति का ऋण चुकाये बिना यानी आवश्यक श्रम किये बिना जो खाता है, वह निश्चय ही चोर है। ईशावास्य उपनिषद् में त्याग और भोग की जो जोड़ी थी "तेन त्यक्तेन भुंजीथा" (त्याग करके भोग करो) यह भाष्य प्रकृति के संरक्षण का सबसे महत्वपूर्ण उपाय है, यदि हम शारीरिक श्रम करके खाते हैं तो प्रकृति का चक्र नहीं टूटता है।

इसके कुछ काल बाद ही फिर पर्यावरण विरोधी कलियुग का आना रुकता नहीं तथा महाभारत के कुछ ही वर्षों बाद प्रकृति-प्रेमी श्रीकृष्ण और उनके वंशज यादवों का अन्त हो गया और पर्यावरण विनाश की लीला पुन: चालू हो गई।

पाश्चात्य इतिहासकारों की दृष्टि से सिंधु घाटी की सभ्यता वैदिक काल से पूर्व की सभ्यता मानी जाती है। यह सभ्यता 3000 से 1500 ई. पू. की अत्यन्त उन्नत शहरी सभ्यता मानी जाती है। इस सभ्यता में प्रकृति के प्रतीक पीपल को ही जीवनदाता माना जाता था।

सिन्धु घाटी की सभ्यता से सम्बन्धित मुद्राओं में वर्तनों (पोटरी) पर मिले पीपल के वृक्ष इस बात के साक्षी हैं। इस काल में पीपल को प्राणदाता, जीवनदाता माना गया है। इस काल में देवता पीपल की टहनियों के मुकुट धारण किये हुए हैं। अपने मुकुट बनाने के लिए ये पीपल के वृक्ष की रक्षा करने के लिए असुरों से लड़ाई करते हैं। उस युद्ध में प्राय: देवता ही जीतते रहे हैं। एक बार असुर जीतकर पीपल की कुछ शाखाओं पर अपना नियंत्रण कर लेते हैं। लेकिन शीघ्र ही देवता असुरों को मार देते हैं। इस प्रकार वृक्षों को भगवान् मानकर उनकी पूजा करने का काम इस सभ्यता में जोरों से होता रहा है।

देवताओं, राजाओं व योद्धाओं का सारा ताना-बाना इस वृक्ष के चारों तरफ ही होता रहा। वृक्ष इस सभ्यता के केन्द्र में रहा। इस वृक्ष की रक्षक दिव्य आत्मायें होती थीं। इनका मुख तो मनुष्य जैसा होता था, शेष शरीर कई पशुओं के अंग-प्रत्यंग से मिलकर बना हुआ था। इस प्रकार मुंह को ज्ञान का गुण तथा शेष शरीर मेढे की तरह तीव्रता, बाघ की तरह कुरूपता व आक्रामक तथा नागराज की तरह जहरीले मृत्युजनक काटने वाले मिश्रित गुणों वाले होते थे। कुछ रक्षकों में मुख तथा शरीर एक माने जाते हैं।

एक मुद्रा पर पीपल के वृक्ष की रक्षा सांड कर रहा है। असुर पीपल की तरफ झपट रहे हैं, नन्दी उनसे पीपल को बचा रहा है। अकेसिया के पेड़ की रक्षा हेतु भी नन्दी असुरों से सतर्क अवस्था में खड़ा है। कुछ मुद्राओं में नागराज भी वृक्षों की सुरक्षा के लिए अपना फन उठाये हुए हैं।

ऐसी भी बहुत सी मुद्रायें हैं, जिनमें अकेसिया व पीपल के वृक्ष की रक्षा हेतु रेलिंग बनी हुई है। कुछ के चारों तरफ चबूतरा बना हुआ है। कुछ मुद्राओं में वृक्ष अकेला है, वृक्ष की पूजा करती बहुत सी मुद्रायें हैं। इन्हें

देखकर ऐसा लगता है कि वृक्ष की पूजा पुरातन काल से ही होती आई है। इसी कारण इसे यहां की प्रजा ने पूर्णरूपेण धारण कर लिया।

इस काल में पेड़ों के चारों तरफ बने ताने-बाने को जब हम समझने की कोशिश करते हैं तो समझ में आता है कि उस समय के लोगों का पूरा जीवन प्रकृतिमय था। लोगों को यह ज्ञान तो था ही कि पेड़ प्राणरक्षक है, ज्ञानदाता है, लेकिन यह उस समय इनके सहज जीवन के लिए सुखदाता भी था। खान-पान की आवश्यकता पूर्ति भी पेड़ों से होती थी तथा लोगों के रहन-सहन के लिए घर भी पेड़ों की खोल ही थे। अत: उस काल का मानव यह मान चुका था कि पेड़ों के बिना जीवन सम्भव नहीं है। यह बात देवताओं के मन में पूर्णरूपेण घर कर गई थी। यदि हमने जीवित पेड़ को हानि पहुंचाई तो पेड़ हमारी हानि कर सकता है। इसलिए सिंधु घाटी की सभ्यता का पेड़ों के चारों तरफ ही ताना-बाना बन गया था। सिन्धु घाटी सभ्यता का वह अंतिम दौर रहा होगा जब पक्के मकान, नालियां तथा धातु की मुद्रायें बनी होंगी लेकिन उन मुद्राओं पर अंकित मूर्तियां उनके अतीत के जीवन व्यवहार का प्रकटीकरण अवश्य करती रहीं।

सिन्धु घाटी की सभ्यता के बाद वैदिक सभ्यता का उद्‌भव हुआ। इस काल का बहुत ही विस्तार से वर्णन मिलता है। यह गंगा की घाटी में पनपी थी। यह सभ्यता मूलत: ऐसे ऋषि-मुनियों की देन थी जो कि घने जंगलों में रहते थे। इस काल में केवल उपयोग हेतु प्राकृतिक वस्तुओं को तैयार करके उनका विनियोग आरम्भ हो गया था। यह भारतीय सभ्यता प्रकृतिमय रही थी, लेकिन धीरे-धीरे इसमें बर्बरता आने लगी थी। यह कैसे हुआ, यह समझना मुश्किल है, लेकिन रीति विधान की सहायता से कुछ समझा जा सकता है। फिर भी इसकी प्रगति तथा कारणानुबन्ध की दृष्टि से इसे समझने की बहुत आवश्यकता है।

यहां का आदि मानव जंगली जानवरों तथा प्रकृति प्रकोप को कष्ट के रूप में नहीं समझता था, बल्कि उसे प्रकृति द्वारा दिया प्रसाद मानकर सम्मान के साथ स्वीकार करता था। लेकिन मानव मन सुख व सुविधा का इच्छुक होता है। यह चाह ही तो यहां के मानव में भी आई, इसलिए ही यहां पर शिकार करने, मछलियां पकड़ने के हथियार, पत्थर की छेनियां, लकड़ी के हाथकरघे, तरह-तरह के बर्तन-भाड़ों के अवशेष चित्रांकन आदि पाषाण युग के लोगों के रहन-सहन को समझने में मदद करते हैं। इस विषय में कुटेनपेल्स का विचार है कि कोचीन के 'गाड़र' भारत में ज्ञात सबसे प्राचीन सभ्यता के द्योतक हैं। ये जंगलों में पैदा वस्तुओं का संचयन करके और शिकार खेल कर अपनी आजीविका चलाते थे।

धीरे-धीरे कुछ लोगों ने दूसरों द्वारा इकट्ठी की हुई वस्तुओं को खरीदना व बेचना आरम्भ किया। इससे एक विशेष वर्ग बनने लगा। आरम्भ में यहां कोई वर्ग नहीं था। जैसे उत्पादन शुरू हुआ तो वर्ग निर्माण भी होने लगा। साथ-साथ प्रकृति का दोहन तेज होता गया। फिर केन्द्रीकरण होने लगा। सम्पन्न वर्ग के हाथ में राज्य सत्ता आ गई। बस यहां से सभ्यता की मंजिल का श्रीगणेश हुआ।

इस काल में मानव पूजा-पाठ तो अधिक नहीं करता था, लेकिन किसी प्राकृतिक घटना जैसे पशु, वृक्ष आदि से सम्बन्धित इसका गण चिह्न होता था। यह आदिकाल के शिकारी-कबीलों के भौतिक जीवन को भी प्रतिबिंबित करता है जिसमें लोग एक दूसरे के किसी गोत्र से संबंधित थे। आज विद्यमान 'धराड़ी' परम्परा भी गुण चिह्नवाद की अति विस्तृत सामाजिक-प्राकृतिक सम्बन्धों को परिलक्षित करती है। उक्त सिद्धांत प्रकृति-महत्व का प्रकटीकरण है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि सांख्य काल में भी प्रकृति में पूर्ण आस्था थी।

प्रत्येक कबीले कुलों में विभक्त थे। ये कुलों की अलग पहिचान के लिए अपने चिह्न या झण्डे का नाम जानवरों, पौधों, चिड़ियों या प्रकृतिमय वस्तुओं पर ही रखते थे। भौतिक जीवन की परिस्थितियां आदिकालीन मनुष्यों को उनके चारों ओर के पशुओं-पक्षियों या पौधों की दुनिया से बांधे रखती थी। क्योंकि इनका विश्वास था कि पशुओं, पक्षियों या पौधों से उनका रक्त सम्बन्ध है। वे अपने गण चिह्न को अपनी जाति का वंशज एवम् पूर्वज मानते थे।

नव पाषाण युग के लोग शिकार की अपेक्षा फसलों की सुरक्षा के विषय में अधिक चिन्तित होने लगे थे। इस परिवर्तन ने उनके मानसिक क्रियाकलापों को भी प्रभावित किया। खेत को जोतते, बोते और फसल काटते समय तथा वर्षा, सम्पत्ति प्राप्ति के लिए भी अब जादुई अनुष्ठानों का सहारा लिया जाने लगा। बर्नाल महाशय के अनुसार "खेती-बाड़ी, फल-फूलों तथा वृक्षों आदि का प्रभाव जो शिकारी संस्कृति के काल में पशु जीवन पर उसके प्रभाव से परोक्ष रूप में ही समझा जाता था, वह अब जीवन-मरण का प्रश्न बन गया। वर्षा हेतु अनुष्ठानात्मक जादुई कर्मकाण्ड का एक दूसरा लक्ष्य बन गया। बसन्त और कटाई के उत्सव नियमित रूप से मनाये जाने लगे।" ये सब अनुष्ठान लोगों के व्यावहारिक कार्यकलापों से संबंधित थे। इस युग का मुख्य ध्येय फसल बढ़ाना था। इनका विश्वास था कि बच्चे पैदा करने वाली स्त्री तथा फसल पैदा करने वाली धरती में अदृश्य संबंध है। इसलिए फसलों के प्रोत्साहन के लिए स्त्री-पुरुष संभोग अनुष्ठान करते थे।

यह युग भी प्रकृतिमय था। जीवन का प्रत्येक पहलू प्रकृति से प्रभावित था। प्रकृति से अलग जीवन अस्तित्व सम्भव ही नहीं था। यह पूरा काल जंगली जीवों एवं पेड़-पौधों से चारों तरफ से घिरा हुआ रहा लेकिन मानसिक विकास के साथ सुख-सुरक्षा का भान जन्मा जिसके कारण बर्बरता का विकास होने लगा। यह आर्य काल समझा जाने लगा। ये आर्य ऋषि और मुनियों

की तरह "परम् ब्रह्म" के चिंतन में इतने लीन नहीं थे, जितने कि अपने रहन-सहन की परिस्थितियों को सुधारने वाले साधनों की खोज में लीन हुए दिखाई देते हैं।

आर्येतर लोगों को पराजित करना, जो उनसे अधिक उन्नत सभ्यता वाले लोग थे, और उनसे लड़ना कोई आसान काम नहीं था। अत: उनके विरुद्ध युद्धों में विजय के लिए उन्होंने अपने देवताओं से सहायता की प्रार्थना की। तभी से युद्ध शुरू होने से पूर्व इन्द्र की प्रार्थना की जाती है।

"हे इन्द्र। निश्चल और निर्भीक। तुम शत्रुओं के खिलाफ बिजली की चमक और बादलों की गरज की तरह अपनी तेज तलवार इस्तेमाल करने की शक्ति दो जिससे आकाश के कोने काँप उठें।

अम्बर को तुमने ही दो खण्डों में विभाजित कर दिया। इन्द्र की इन शक्तियों के वर्णन के साथ प्राय: उनका आशीर्वाद प्राप्त करने की भी प्रार्थना की जाती थी।

देवताओं की सेना के एक दूसरे सेनानायक वरुण भी बलवान और शक्तिशाली थे। इन्होंने ही आकाश को इतना ऊंचा उठाकर पृथ्वी और स्वर्ग को एक दूसरे से अलग किया था। नदियां समुद्र में मिल जाती थीं, किन्तु समुद्र कभी उफनता नहीं था। इससे भी वरुण की शक्ति प्रकट होती थी। ऋग्वेद में वरुण का चित्रण इस संसार के भविष्य का निर्देशन और नियंत्रण करने वाले देवता के रूप में किया गया है।

"वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्त्सु पय उस्रियासु।
हृत्यु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ।"

अर्थात् वरुण ने वनों का सौन्दर्य बिछाया है, मकानों को मजबूत किया है और क्षीर पात्र में क्षीर भर दिया है। वरुण ने ही हृदयों में अच्छे भाव,

जल में अग्नि, आकाश में सूर्य और पर्वतों पर 'सोम' दिया है। इसी प्रकार आर्यों के महत्वपूर्ण देवता थे, अग्नि :

ओ जाज्वल्यमान्! तुमने ही अक्षय सूर्य को
आकाश की यात्रा के लिए उद्यत किया।
मानव को प्रकाश प्रदान किया।

(ऋग्वेद 10, 130-5)

हे अग्नि देव! तुम शरीर के रक्षक हो रक्षा करो।
तुम ही दीर्घायु देने वाले हो, मुझे दीर्घायु दो।
तुम ही मस्तिष्क को प्रतिभा देने वाले हो,
मेरे मस्तिष्क को प्रतिभा दो।
हे देव! मेरे शरीर में जो भी कमी है, उसकी पूर्ति करो।"

"एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एक: सूर्यो विश्वमनु प्रभूत:।
एकैवोषा: सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं विबभूव सर्वम्।"

(ऋग्वेद, 8.58.2)

अर्थात् एक अग्नि है, जो अनेक स्थानों पर जलती है, एक सूर्य है, जो सर्वत्र प्रकाशित है। एक उषा है जो इन सबको प्रकाशमान करती है। वह जो परमेश्वर है, उसमें यह सब है।

"अग्नि भी वहीं है, आदित्य भी वहीं,
वायु भी वहीं है, चन्द्रमा भी वहीं,
प्रकाश भी वहीं है, ब्रह्मा भी वहीं,
जल भी वहीं है, प्रजापति भी वहीं।

(यजुर्वेद, 32.1)

अग्नि, सूर्य और 'यम जैसे विभिन्न देवता अब एक ही और उसी ईश्वर के रूप में माने जाने लगे :

''इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यंम मातारिश्वानमाहु :।''

(ऋग्वेद, 1.164.46)

अर्थात् वे उसे इन्द्र, मित्र वरुण, अग्नि कहते हैं और इतने पर भी वह दिव्यता देने वाला गरुड़ (सूर्य) है। एक ही गायक को अनेक नाम देते हैं, उसे अग्नि कहो, यम कहो, मातरिश्वन् कहो (एक ही बात है)।

इस प्रकार वेदों में प्रकृति के प्रत्येक अंगों की भगवान- देवता (देने वाले) के रूप में पूजा की गई है।

वेद काल समाप्त होते-होते ब्रह्माण्ड की एकता की कल्पना कर ली गयी थी। परमेश्वर की धारणा पूर्णतः उदय हो चुकी थी और पहले के तमाम देवता उसकी इच्छा का पालन करने वाले मान लिये गये थे। वास्तव में अब अधिकांश वैदिक देवताओं की उपेक्षा की गयी। कुछ तो पूरी तरह भुला दिये गये और कुछ की नाम मात्र की मान्यता रह गयी, यद्यपि उन्हें सभी दैविक शक्तियों से वंचित कर दिया गया था। उदाहरण के लिए इन्द्र विद्युत् और मेघगर्जन के देवता मानते जाते थे, नगरों को नष्ट करने वाले (पुरन्दर) माने जाते थे, वह वर्षा करते थे, अच्छी फसलें देते थे और पशुओं का संरक्षण करते थे। किन्तु अब, अवधारणाओं में परिवर्तन के साथ, वह युद्ध करने वालों अर्थात् क्षत्रियों के देवता रह गये। राजा लोग इन्द्र के वंशज माने जाते थे। अन्ततः इन्द्र को परमपिता परमात्मा के मात्र एक ''दिक्पाल'' के स्तर पर उतार दिया गया।

हमारे प्राचीन दार्शनिकों ने प्रकृति के रहस्यों को समझने और मनुष्य और प्रकृति के बीच के संबंधों की गुत्थी सुलझाने के लिए जो अनवरत प्रयत्न किये, वेद उनकी साक्षी हैं। वेदों के अंतिम अंग, जिन्हें आरण्यक और उपनिषद् कहते हैं, आरण्यक अथवा वन लेख, ब्राह्मणों के परिशिष्ट के समान थे। ये सामान्यत: वेदों की एक शृंखला थे। इनमें भी यज्ञ कराने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। उदाहरण के लिए मुंडकोपनिषद् में देखें —

"तपसा चीयते ब्रह्मा ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मन: सत्यं लोका: कर्मसु चामृतम्॥8॥

मुंडक प्रथम भाग

अर्थात् चिन्तन से ब्रह्मा का विस्तार होता है। उससे अन्न का उत्पादन होता है। अन्न से जीवन, (उससे) मन (उससे) यथार्थ (पंचभूत) उससे (संस्कार) उससे कर्मकाण्ड और कर्मकाण्ड से अमरतत्व प्राप्त होता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ब्रह्माण्ड के विषय में लिखता है।

"आप ऐवदमग्न आसुरता आप सत्यसृजन्त सत्य ब्रहावहा प्रजापति
प्रजापति देवास्ते देवा: सत्य मेवाययासे ..... " पांच, एक॥

अर्थात् आरम्भ में ब्रह्माण्ड जल ही जल था। उस जल ने सबका निर्माण किया, ब्रह्मा ही सब है। ब्रह्मा ने प्रजापति की सृष्टि की और प्रजापति ने देवताओं की। इन देवताओं ने सबका चिन्तन आरम्भ किया। इसी को तैत्तिरीय उपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है —

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत:। आकाशाद्वायु:। वायोराग्नि:। अग्नेराप:। अद्भ्य: पृथिवी। पृथिव्या ओषधय:। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुष:।

अर्थात् आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। इससे प्रकृति तथा आत्मा से मनुष्य उत्पन्न हुआ है। इसके उत्पन्न होने के बाद जीवित रखने वाला मूर्त

ब्रह्मा अर्थात् वायु एवं वायुमण्डल ही है। यह बात बृहदारण्यक उपनिषद् में के (2-3-1) में कही गई है। इसी उपनिषद् में यह बात भी कही गई है कि ब्रह्मा प्रकृति से परे कुछ नहीं है। वह स्वयं प्रकृति अर्थात् ब्रह्माण्ड ही है।

उपनिषद् काल के बाद ब्राह्मणकाल में कर्मकांड जिस रूप में अपने चरमोत्कर्ष पर गया, उसमें ज्ञान का, संवेदनाओं का ह्रास हुआ। प्रकृति की समझ भी कम होती चली गई। इसी कारण बर्बरता हिंसा-पीड़ा दुख-दर्द बढ़ते चले गये।

सिन्धु घाटी की प्राचीन सभ्यता धीरे-धीरे विकास करते प्रकृति के नियमानुसार समाप्त हो गई। उसके साथ व बाद में वैदिक सभ्यता का प्रभाव, फिर वेदान्त काल, फिर ब्राह्मणकाल से गुजरते-गुजरते यहां बर्बरता पनप गई। हिंसा, दुख:-पीड़ा यह सब प्रकृति विरोधी ताकतें खड़ी होने लगीं। प्रकृति विरोधियों में 'सत्ता' के लिए संघर्ष, हिंसा बढ़ी और चारों तरफ हाहाकार मच गया। आज से लगभग 2600 वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध जैसे शांति का संदेश देने वाले अवतार जन्मे और इन्होंने चारों तरफ अहिंसा का संदेश दिया। इसी काल में भगवान महावीर जन्मे जिन्होंने —

"अहिंसा परमो धर्म:" को परवान चढ़ाया।

भगवान महावीर ने 'अयारो' नाम पुस्तक में कहा है कि पहाड़, मिट्टी, पेड़-पौधे भी मानव की तरह जीव हैं। इनके साथ भी हमारा व्यवहार हमारे शरीर जैसा ही होना चाहिए। इनमें भी हमारे शरीर की तरह जीव का प्रवहन होता रहता है।

'अयारो' नामक महान पुस्तक मानव को प्रकृति के साथ व्यवहार करना सिखाती है। आज तो यह पुस्तक पर्यावरण प्रेमियों को भी व्यवहार में लानी

मुश्किल सी लगती है। लेकिन जैन धर्म के उत्कर्ष काल में यह लोगों की आचारसंहिता रही होगी। लेकिन अन्य धर्म की तरह यह भी कुछ काल बाद विभिन्न सम्प्रदायों में बंट गया।

इसके बाद यहां सांख्य दर्शन का प्रभाव बढ़ा। इस काल में प्रकृति को अविनाशी, अनादि और अनंत माना गया था। सांख्य ने सिखाया कि अनेकानेक रूप वाले इस जगत् का क्रमिक विकास प्रकृति अथवा प्रधान से हुआ है, जो बोधहीन और संवेदनाहीन है, अविकसित और अरूप है। उन्होंने इसकी उत्पत्ति पच्चीस सिद्धान्तों अथवा तत्वों की क्रिया-प्रक्रिया के फलस्वरूप मानी है। उन्होंने इसे उतना ही सहज स्वत:स्फूर्त माना जैसे गाय दूध देती है, दूध से मक्खन प्राप्त होता है।

वैशेषिक दर्शन में कणाद ऋषि ने परमाणुओं से संसार के विकास की अवधारणा की है। इन्होंने भौतिक तत्वों को "क्रियामाणवत् समवायि कारण-मिति द्रव्यलक्षणम्" द्रव्यों में बांट कर देखा। पृथ्वी, आप (जल) तेजस् (अग्नि), वायु (हवा आकाश), ईश्वर, काल (समय), दिक् (आकाश), आत्मन् (आत्मा), और मनस् (मस्तिष्क)। उन्होंने कहा कि उक्त नौ द्रव्य मिलकर ही सब कुछ निर्माण करते हैं। उन्होंने कहा—परमाणु न तो मृत्यु है और न ही निष्क्रिय और न स्थैतिक है। यह स्वयं अपने गुणों के आधार पर परिचालित होता है। इन्होंने पहली बार आत्मा को अन्य पदार्थों के समान ही एक पदार्थ माना है, जिसमें चेतना का अस्तित्व माना गया है। बात यहीं से प्रकृति के प्रति आस्था की आरम्भ हुई।

कौटिल्य के काल में न्याय लोकप्रिय दर्शन था। इसके अनुसार संसार का गठन करने वाले परमाणविक तत्व (अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) शाश्वत और यथार्थ हैं। इसलिए इस जगत् की उत्पत्ति को समझाने के लिए किसी ईश्वर (अलौकिक प्रकृति शक्ति की अवधारणा) की आवश्यकता

नहीं है। वैशेषिक एवम् न्याय दर्शन में दोनों ने ही आरम्भ में तो पदार्थ का कोई स्रष्टा स्वीकार नहीं किया। बाद में इनमें भी प्रकृति (सृष्टि) के रचयिता ब्रह्मा (ईश्वर) की सत्ता को स्वीकार कर लिया गया था।

योग में भी प्रकृति सत्ता के प्रति आस्था थी। इसी प्रकार मीमांसा दर्शन भी बुनियादी तौर पर तो अनीश्वरवादी पृष्ठभूमि में चला गया था। लेकिन वेदों की अक्षुण्णता तथा चिरंतन उच्चरित ध्वनियों की पूर्ण पवित्रता का सिद्धान्त कर्मकाण्डों और यज्ञों में अन्धविश्वास के साथ मिलकर मीमांसा प्रणाली का सम्पूर्ण आदि और अन्त बन गया था।

प्राय: सभी भारतीय दर्शन प्रकृति सत्ता में विश्वास रखते थे। लोकायत दर्शन के विषय में कहना मुश्किल है। अन्तत: यह बात कही जा सकती है कि प्राचीन भारतीय आस्थाएं सृष्टि (प्रकृति की सत्ता) को स्वीकार करके इसको अपने चिन्तन द्वारा पुष्ट करती रही हैं। यहां के दर्शन में भौतिकवाद और आदर्शवाद का संमिश्रण रहा है। लेकिन भौतिकवादी दर्शन जैसे लोकायत यहां टिक नहीं सका। उच्च आदर्शों के कारण यहां का मानव मर्यादित, संयमी जीवन जीकर उच्च शक्तियों को प्राप्त करके परमानन्द की कल्पना करता रहा तथा परमानन्द को प्राप्त भी कर सका। □ □

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥3॥

मुण्डकोपनिषद्

मुद्रक : कुमार एण्ड कंपनी, जयपुर